Indian J. Soc. & Pol. 09 (01) :79-84: 2022 **ISSN: 2348-0084 (PRINT)**
31 JANUARY 2022 **ISSN: 2455-2127(ONLINE)**

भारत में बहुसंस्कृतिवाद : सांस्कृतिक विखंडन से निकलने का संकट

आलोक वर्मा[1]

[1]एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा, बिहार, भारत

ABSTRACT

बाजार आधारित लोकतंत्र के नये रूप में उदारतावादी लोकतंत्र समाज में सत्ता की विराट संरचनाओं के राजनीतिक–सांस्कृतिक वर्चस्व को बनाये रखने का जरिया बन कर रह गया है। समझा जाता है कि इस वर्चस्व के जरिये उदारतावादी राज्य हर समाज में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समरूपीकरण सुनिश्चित कर सकता है। लेकिन समरूपीकरण की परियोजना को लागू करने के चक्कर में तीसरी दुनिया के बहुजातीय समाजों में राज्य की संस्था एक खास तरह की कशमकश में फँस जाती है। हर जगह बाजार आधारित लोकतंत्र रचने के दौरान राज्य को अपनी उदारतावादी संस्थाओं को उस सामाजिक और सांस्कृतिक अस्थिरीकरण से बचाना पड़ता है, जो बाजार के पक्ष में राज्य के हस्तक्षेप के कारण ही पैदा होता है। साथ ही राज्य को समाज पर शासन करने के लिए एक स्थिर राष्ट्रीय–सांस्कृतिक आधार खड़ा करने की चुनौती का सामना भी करना पड़ता है।

KEYWORDS : *भारतीय संस्कृति, सांस्कृतिक विखण्डन, बहुसंस्कृतिवाद, लोकतंत्र, तीसरी दुनिया*

बाजार आधारित लोकतंत्र के नये रूप में उदारतावादी लोकतंत्र समाज में सत्ता की विराट संरचनाओं के राजनीतिक–सांस्कृतिक वर्चस्व को बनाये रखने का जरिया बन कर रह गया है। समझा जाता है कि इस वर्चस्व के जरिये उदारतावादी राज्य हर समाज में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समरूपीकरण सुनिश्चित कर सकता है। लेकिन समरूपीकरण की परियोजना को लागू करने के चक्कर में तीसरी दुनिया के बहुजातीय समाजों में राज्य की संस्था एक खास तरह की कशमकश में फँस जाती है। हर जगह बाजार आधारित लोकतंत्र रचने के दौरान राज्य को अपनी उदारतावादी संस्थाओं को उस सामाजिक और सांस्कृतिक अस्थिरीकरण से बचाना पड़ता है, जो बाजार के पक्ष में राज्य के हस्तक्षेप के कारण ही पैदा होता है। साथ ही राज्य को समाज पर शासन करने के लिए एक स्थिर राष्ट्रीय–सांस्कृतिक आधार खड़ा करने की चुनौती का सामना भी करना पड़ता है। (हेल्ड 1999, पृ. 201–202)

जबर्दस्त जातीय और वर्गीय टकराव से ग्रस्त होने के बाद भी तीसरी दुनिया के समाजों के लिए उदारतावादी राज्य पर आधारित बाजार–लोकतंत्र के मॉडल को ही उपयुक्त मानने के दो कारण समझ में आते हैं। पहला राजनीतिक उदारतवादी में राज्य को एक औजार के रूप में देखने की प्रवृत्ति का होना जिसके तहत राज्य को निजी लक्ष्यों की पूर्ति का वाहक माना जा सकता है। दूसरा, विचारधारात्मक रूप से उदारतावादी राज्य देश–कालगत, सांस्कृतिक और वंशगत विभिन्नताओं के आधार पर मानवीय विविधताओं को मान्यता नहीं देता। इसीलिए माना जाता है कि उदारतावादी राज्य समुदायों को उनकी आदिम–धार्मिक परंपराओं से छुटकारा दिला कर राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सामाजिक और राजनीति गोलबंदी की तरफ ले जा सकता है। अर्थात् उदारतावादी राज्य प्रतिनिधित्वमूलक संस्थाओं की मदद से किसी भी राष्ट्र में समाज पर हुकूमत करने के लिए एक नया सांस्कृतिक आधार खड़ा कर सकता है। तीसरी दुनिया के नेताओं को लगता है कि किसी सहभागी–लोकतांत्रिक प्रणाली के बजाय नयी भूमंडलीय व्यवस्था में हिस्सेदारी उदारतावादी राज्य के जरिये आसानी से हासिल हो सकती है। (वही, पृ0206)

इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उदारतावादी राज्य पहले से मौजूद भू–क्षेत्र आधारित स्थानीय–सामुदायिक संस्कृतियों का सफाया करके एक ऐसी संस्कृति बनाने की कोशिश करता है जिसमें नागरिकता के आधार पर व्यक्तियों की एसोसिएशन उपभोक्ता और उत्पादक के रूप में कार्यरत रहती हैं। समझा जाता है कि यह नयी संस्कृति राज्य को पूरे समाज के प्रबंधन और रूपांतरण का अधिकार दे देती है। इस सत्ता को बनाये रखने की वैधता राज्य को आधुनिकीकरण और विकास को सार्वभौम विचारधाराओं की बिना पर मिल जाती है।

असलियत यह है कि उदारतावादी राज्य के लिए लोकतंत्र अब सत्ता की प्राथमिक शर्त नहीं रह गया है। वह तो खुद को नये कारणों के आधार पर न्यायोचित ठहराने लगा है। उदारतावादी राज्य के चरित्र में हुए इस परिवर्तन ने उसके कामकाज में एक असंगति पैदा कर दी है। लोकतंत्र के संस्थागत मानकों और उन नीतिगत प्रक्रियाओं को सम्मिलित लय भंग हो गयी है जिसके जरिये उदारवादी राज्य अपनी सार्वभौम विचारधाराओं को लागू करता रहा है। यही कारण है कि टकराव होने पर आधुनिकीकरण और विकास को सरकारी नीतियों को लोकतांत्रिक शासन के मानकों के मुकाबले हमेशा

1: Corresponding Author

प्राथमिकता मिल जाती है। स्थानीय समुदायों द्वारा स्वशासन की माँगों के रूप में जब लोगों की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को राज्य अलोकतांत्रिक मानता है, खासतौर पर उस समय जब ये आकांक्षाएँ राज्य की सार्वभौम विचारधाराओं की शब्दावली में व्यक्त नहीं की जातीं। (कविराज, 1984, पृ. 115.) हालत यह कि जनता और समुदायों को सुरक्षा अब महत्वपूर्ण नहीं रह गयी है बल्कि राज्य की संस्थाओं को बाह्य तौर पर दूसरे राज्यों से और आंतरिक तौर पर अपनी ही जनता से बचाना ज्यादा जरुरी समझा जाने लगा है।

भारत के राजनीतिक और सामाजिक समरूपीकरण की प्रक्रिया

उदाहरण से पूरी तरह साफ हो जाता है कि एक सभ्यतामूलक आयामों वाले समाज द्वारा राष्ट्र–राज्य का सिद्धांत अपनाने पर क्या हालत हो जाती है। भारतीय राज्य इस उपमहाद्वीप में हुए एक बड़े जातीय–धार्मिक विभाजन का नतीजा था। इन परिस्थितियों में अगर भारत ने जातीय राष्ट्रत्व के आधार पर राज्य का गठन किया होता तो वह विभाजन की तार्किक परिणति होती। लेकिन तर्क और इतिहास की इस दौड़ में जीत इतिहास की हुई। और तो और, जातीय–धार्मिक विकल्प पर गंभीरता से विचार ही नहीं किया गया। भारत में अस्सी फीसदी हिंदुओं का भारी बहुमत था, लेकिन दूसरी तरफ मुसलमान अल्पसंख्यकों की भी अच्छी–खासी (10 फीसदी) संख्या थी। कुछ मुसलमान तो देश छोड़कर चले गये और कुछ जबरदस्ती पाकिस्तान भेज दिये गये। पर ज्यादातर अपनी जन्मभूमि में ही रह गये। भारत में धार्मिक, भाषायी, क्षेत्रीय, कुल, जाति और पंथ से संबंधित समूहों से मिला–जुला जातीयता का एक जटिल तानाबाना था। उनकी सांस्कृतिक सीमाएँ एक–दूसरे की सीमाओं में घुली–मिली थीं। सदियों से वे एक सभ्यतामूलक संरचना में एक–दूसरे से जुड़े हुए थे। किसी राजनीतिक व्यवस्था के माध्यम से उनका जुड़ाव कभी–कभी और आंशिक रूप से ही होता था। आश्चर्यजनक रूप से जटिल यह समाज धर्म या जातीयता के किसी अन्य सिद्धांत के आधार पर राज्य की स्थापना कभी नहीं कर सकता था। उसने ऐसा किया भी नहीं। लेकिन इसी के साथ उसने अपने लिए राष्ट्र–राज्य से अलग कोई राजनीतिक व्यवस्था भी नहीं गढ़ी, हालाँकि भारत संभवतः ऐसा कर सकता था। उसका प्रकटतः सेकुलर गैरजातीय राज्य जातीयता की ताकतों को वश में नहीं रख सका। वे राष्ट्र–राज्य के सिद्धांत में अंतर्निहित जो थीं। (सेठ, 2009, पृ. 284)

संभवतः भारतीय राज्य के निर्माताओं को एक बहुलवादी समाज में राष्ट्र–राज्य निर्माण के सामने आने वाली दिक्कतों का अहसास था। संविधान सभा ने इसीलिए नये राज्य की स्थिरता और वैधता के लिए राजनीतिक बहुसंख्या निर्मित करने के धार्मिक, भाषाई या किसी जातीय आधार को मंजूर नहीं किया। भारतीय राज्य ने स्वतंत्रता संग्राम में जन्मी राजनीतिक शक्तियों और उपनिवेशवादी शासकों द्वारा तैयार किये गये ढाँचे और संस्थाएँ समाज के निर्माण का लक्ष्य धार्मिक भाषाई और जातीय आधार पर विभाजित लोगों को जोड़ने वाली विशाल राजनीतिक व्यवस्था के तौर पर लिया। अंग्रेजी शासन में यह विभाजन और तीखा हो गया था। यह व्यवस्था गैर–एकात्मक भारतीय संघ के रूप में परिकल्पित की गई, जिसमें अर्धसंघवाद के सिद्धांत के तहत कई प्रांतीय राज्यों का गठन किया गया। (डिसूजा, 1999, पृ. 68–72.)

लेकिन नया संविधान अपनाने के पाँच साल के भीतर ही प्रमुख भाषाई समूहों की बढ़ती जातीय आकांक्षाओं को समायोजित करने के लिए भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करना पड़ा। इस तरह प्रमुख भाषायी समूहों की अलग–अलग क्षेत्रीय पहचान स्थापित हो गई। यह प्रक्रिया अभी तक पूरी नहीं हो सकी है। कई अन्य बड़े जातीय–भाषायी और धार्मिक समूह अपने लिए अलग प्रांत के दर्जे की माँग कर रहे हैं। लेकिन कुछ समूह इससे भी आगे जाकर भारतीय संघ के बाहर अपने लिए संप्रभु और स्वतंत्र राष्ट्र–राज्य की माँग कर रहे हैं।

भारतीय राज्य ने राष्ट्रत्व का जातीय सिद्धांत न मानते हुए अपनी वैधता को भारतीय समाज के लिए पूरी तरह से नए सेकुलर, जनहितवादी और राजनीतिक समता के राजनीतिक विचारों पर आधारित करने की कोशिश की। सार्विक मताधिकार के माध्यम से सभी को नागरिकता का समान अधिकार देकर ये लक्ष्य हासिल किए जाने थे संविधान ने विश्वास दिलाया कि राज्य धार्मिक आस्था, जातीयता, वंश, जाति, उपजाति या लिंग के आधार पर नागरिकों से भेदभाव नहीं करेगा। स्वतंत्रता आंदोलन के अनुभव से इसने अपनी जनता के राष्ट्रीय जीवन के लिए नए मूल्य विकसित करने की कोशिश की। स्वाधीनता के पहले दो दशकों की नीतियों में राष्ट्रीय अखंडता और लोकतांत्रिक भागीदारी मूलमंत्र के रूप में अपनाई गई और आर्थिक विकास को उतनी वरीयता नहीं दी गई। इस तरह भारत ने अपनी वैधता विखंडित जातीय संरचना या हिंदू राजनीतिक बहुसंख्यावाद के लुभावने सिद्धांत पर आधारित करने के बजाय नागरिक समाज के सहगामी राष्ट्र–राज्य खड़ा करने की कोशिश की। आखिर में इस कोशिश ने चुनावी राजनीति के जातीयतावादी दबावों के आगे घुटने टेक दिए। (वही) विरोधाभास देखिए कि इसी चुनावी राजनीति के माध्यम से उसने समाज के जातीय विभेदों को धीरे–धीरे जज्ब करने लेने वाला राष्ट्रीय राजनीतिक समुदाय बनाने की उम्मीद की थी।

अपकेंद्रीय जातीय दबाव

आजादी की आधी सदी के बाद भारतीय राज्य की यह कोशिश गड़बड़ा गई लगती है। सांस्कृतिक बहुलता को एक विशाल राजनीतिक व्यवस्था में बाँध कर राष्ट्र–राज्य बनाने की कोशिश अब पूरी तरह उलट गई है। बढ़ते हुए जातीय और अन्य दबावों के आगे राज्य और ज्यादा केंद्रीकृत और दमनकारी होता चला गया है। उसके संघीय चरित्र में काफी ह्रास हुआ

है। लोकतांत्रिक संस्थाएँ निष्प्रभावी हो गई हैं। जातीय अस्मिताओं को नागरिकों की राष्ट्रीय अस्मिताओं में बदलने की परियोजना आज समाज के अपकेंद्रीय जातीयतावादी खिंचावों की शिकार हो चुकी हैं। इसीलिए राज्य और उसके प्रभु वर्ग का एक हिस्सा बहुसंख्यक जातीयता को राष्ट्रवाद के नए और स्थायी आधार के रूप में देखना शुरू कर चुका है। नतीजतन, जातीय अल्पसंख्यक आज पहले से भी ज्यादा असुरक्षित महसूस कर रहे हैं। उनमें से कुछ अपने लिए एक स्वायत्त राजनीतिक बंदोबस्त की माँग कर रहे हैं और कुछ ने पूर्ण स्वतंत्रता की माँग ही उठा दी है।(चंडोक, 1998, पृ. 53.)

दरअसल, कोई राष्ट्र–राज्य सिर्फ एक राजनीतिक बंदोबस्त यानी विभिन्न जातीयताओं को संभालने वाली इकाई के रूप में ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकता। देर–सबेर उसे जातीय सामंजस्य कायम करने के स्थान पर आर्थिक विकास को वरीयता देनी ही पड़ेगी। लेकिन यह बदली हुई वरीयता विभिन्न जातीय समूहों का राजनीतिक समीकरण बिगाड़ देती है। विकास की प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से पैदा होने वाली असमानताएँ इसी आधार पर देखी जाने लगती हैं। असल में ये असमानताएँ इसी आधार पर पैदा होती भी हैं। विकास की प्रक्रिया में जातीयता का सांस्कृतिक आधार कमजोर हो जाता है और अपनी माँगों की पूर्ति के लिए जातीय समूह राजनीतिक पहचान बनाने लगते हैं। विकास की प्रक्रिया में जातीयता का सांस्कृतिक आधार कमजोर हो जाता है और अपनी माँगों की पूर्ति के लिए जातीय समूह राजनीतिक पहचान बनाने लगते हैं। जातीय समूहों के हित सेकुलर आर्थिक हितों में अपना दावा जमा लेते हैं और राष्ट्रीय समृद्धि में अपनी हिस्सेदारी की माँग होने लगती है भले ही वह समृद्धि सबको हिस्सा देने के लिए काफी हो या न हो। महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि ये हित जातीयता की भाषा में खुद को अभिव्यक्त करते हैं और जातीय आकांक्षाओं और जातीय समूहों द्वारा अपने विकास की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राजनीतिक स्वायत्तता या अलग राज्य की माँग उठाने लगते हैं। राजनीतिकृत जातीयताओं के लिए दोनों माँगें अभिन्न रूप से जुड़ी होती है। हालाँकि उनकी शब्दावली आर्थिक के बजाय धार्मिक और सांस्कृतिक ज्यादा होती है।

भारत में आज यही हो रहा है। विकास की प्रक्रिया में कुछ अल्पसंख्यकों ने बहुसंख्यकों से बेहतर उपलब्धियाँ हासिल कर ली हैं। बेहतर उपलब्धि करने वालों को लगता है कि अगर एकल राज्य में उनका भविष्य औरों से न बँधा होता तो वे और प्रगति कर सकते थे। विकास की दौड़ में पिछड़ गए लोग भी इसी तरह का समाधान ढूँढ़ते हैं। वे समझते हैं कि अगर उनका अपना राज्य होता और विकास के फायदों को हड़प लेने वाले दूसरे जातीय समूह उसमें न होते तो वे अच्छी प्रगति कर सकते थे दूसरी तरफ बहुमत अल्पसंख्यकों की इन कोशिशों को राष्ट्रीय हित के लिए घातक समझता है। इसलिए वह अपना राजनीतिक और सांस्कृतिक दबदबा कायम करके अल्पसंख्यकों पर नए समीकरण थोपने की कोशिश करता है।

जातीयकरण और विकास का राजनीतिकरण

विश्लेषण के इस मोड पर सभी तरह के जातीय संघर्षों को आर्थिक संदर्भ में व्याख्यायित नहीं कर केवल उस विलक्षण दुविधा का विश्लेषण प्रासंगिक जान पड़ता है जो आर्थिक विकास के दौरान एक नए बहुजातीय राष्ट्र–राज्य को झेलनी पड़ती है। अगर राज्य की नीति जातीय सद्भाव बनाए रखना ही हो जाए तो आर्थिक विकास पिछड़ जाता है। फिर यह तरीका भी ज्यादा दिनों तक नहीं चल पाता, क्योंकि जाति आकांक्षाओं के भी आर्थिक पहलू होते हैं। दूसरी तरफ अगर अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के दबावों के तहत आर्थिक विकास के कार्यक्रमों पर जोर दिया जाए तो उनसे जातीय समूहों का टकराव तेज हो जाता है। दोनों हालतों में एक दूसरे से टकरा रही राजनीति का जातीयकरण और विकास का राजनीतिकरण राज्य को कमजोर करता है।

मैं यहाँ सभी तरह के जातीय संघर्षों को आर्थिक संदर्भ में व्याख्यायित नहीं करना चाहता। मैं तो उस विलक्षण दुविधा का विश्लेषण कर रहा हूँ जो आर्थिक विकास के दौरान एक नए बहुजातीय राष्ट्र–राज्य को झेलनी पड़ती है। अगर राज्य की नीति जातीय सद्भाव बनाए रखना ही हो जाए तो आर्थिक विकास पिछड़ जाता है। फिर यह तरीका भी ज्यादा दिनों तक नहीं चल पाता, क्योंकि जातीय आकांक्षाओं के भी आर्थिक पहलू होते हैं। दूसरी तरफ अगर अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के दबावों के तहत आर्थिक विकास के कार्यक्रमों पर जोर दिया जाए तो उनसे जातीय समूहों का टकराव तेज हो जाता है। दोनों हालतों में एक दूसरे से टकरा रही राजनीति का जातीयकरण और विकास का राजनीतिकरण राज्य को कमजोर करता है। (वही पृ0 57–58)

भारतीय राज्य के सामने इस समय चुनौती है कि लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर राज्य और राष्ट्रीय समाज में समतुल्यता कैसे स्थापित की जाए। जब तक सच्चे संघवाद और विकेंद्रीकरण के आधार पर राज्य का पुनर्गठन नहीं किया जाता तब तक जातीय संघर्ष राष्ट्र–राज्य की, जनता के वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में, वैधता और आर्थिक विकास की क्षमताओं का क्षय करते रहेंगे। शासक वर्ग द्वारा प्रतिक्रियात्मक दमन यानी राज्य की शक्तियों का अधिकतम केंद्रीकरण जातीय समस्या हल करने वाला नहीं है। दरअसल ऐसी प्रतिक्रिया न सिर्फ अल्पसंख्यकों के बल्कि सभी नागरिकों के मानवाधिकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं में कटौती करेगी। फिर ऐसे केंद्रीकृत राज्य को अपनी वैधता के लिए लगातार जातीय बहुसंख्यकों की भावनाओं और हितों पर निर्भर होकर शासन का अधिकनायकवादी तरीका अपनाना पड़ेगा। ऐसा हुआ तो एक

सभ्यतामूलक बहुल समाज में राष्ट्र–राज्य खड़ा करने का भारतीय प्रयोग अंतिम रूप से असफल हो जाएगा।

तीसरी दुनिया के अन्य देशों की कहानी इससे अलग नहीं है। ईरान जैसा देश भी, जिसके पास केंद्रीकृत राजशाही चलाने का लंबा अनुभव रहा है, आज राष्ट्र–राज्य के संदर्भ में जातीयता की समस्याओं को सुलझाने में दिक्कत महसूस कर रहा है। शाह ने ईरान में आधुनिक राष्ट्र–राज्य के निर्माण के लिए एक तरफ राज्य की वैधता का स्रोत प्राचीन फारसी साम्राज्य में तलाशने की कोशिश की और दूसरी तरफ इसके इस्लामी आधार का अवमूल्यन करना चाहा। उनका यह प्रयास पूरी तरह विफल हो गया। यह जरुर कहा जा सकता है कि शाह को इस कोशिश में ईरान के भाषायी और कबीलाई अल्पसंख्यकों (देश की आबादी के 45 फीसदी) का समर्थन मिला, पर इस्लाम के अवमूल्यन ने ईरानी राज्य की स्थिरता खतरे में डाल दी। नतीजतन, जन क्रांति के जरिए राज्य का फिर से इस्लामीकरण हुआ। कुछ लोगों को लग सकता है कि आयातुल्ला खुमैनी द्वारा की गई धार्मिक–राष्ट्रवादी गोलबंदी से एकीकृत राष्ट्रीय समाज का निर्माण हो जाएगा और ईरानी राज्य को वैधता और स्थिरता प्राप्त हो जाएगी।

लेकिन जैसा कि माईनर वीनर का तर्क है कि दूरगामी तौर पर यह संभावना अधिक है कि गैर–फारसी भाषायी और कबीलाई अल्पसंख्यक अपनी जातीयता के गैर–धार्मिक आयाम पर जोर देंगे और जातीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राजनीतिक स्वायत्तता की माँग करेंगे। इसी तरह अफगानिस्तान में भी सोवियत सेना के वापस जाने के बाद विशेषकर अफगान शहरी मध्य वर्ग यह सोच कर इस्लाम का आह्वान कर रहा है कि धर्म जातीय और कबीलाई समूहों का विभाजन दूर कर देगा। लेकिन पाकिस्तान, बांग्लादेश और ईरान के अनुभव इस उम्मीद को सही नहीं साबित करते। आधुनिक राष्ट्र–राज्य के निर्माण में लगे बहुजातीय समाजों में धर्म और जातीयता एवं राज्य और धर्म का अंतर्विरोध हल नहीं हो सका है। भारत का अनुभव बताता है कि नागरिकता और बाजार भी एक बहुजातीय समाज में राष्ट्र– राज्य का आधार तैयार करने में समर्थ साबित नहीं हुए हैं। अगर ऐसे समाजों को आधुनिक विश्व में रहना और प्रभावशाली भूमिका निभानी है तो उन्हें बिल्कुल अलग राजनीतिक व्यवस्था का गठन करना पड़ेगा। (वीनर 1987.)

वैकल्पिक शासन प्रणाली की ओर

राष्ट्र–राज्य का मॉडल तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों में जातीयता और विकास की समस्या हल करने में अनुपयुक्त साबित हो रहा है। पश्चिमी इतिहास लेखन और तुलनात्मक सिद्धांत से उन्होंने जो मॉडल प्राप्त किया था, उसने उन समाजों में नैरंतर्य और परिवर्तन की जरुरतों के मुताबिक अलग तरह के राज्य के आविष्कार की संभावना समाप्त कर दी है। उन्हें ऐसी प्रक्रिया के साथ बाँध दिया है जो उनके इतिहास, अनुभव और जरुरतों के लिए अनुभवातित हैं। उनका ऐसी राज्य प्रणाली से सामना पड़ा है जो मूलरूप में पश्चिमी राजनीति कला की देन हैं थी और राज्य के ऐसे सिद्धांत पर आधारित थीं जो अपने ही शासन अनुभव की वैधता छीन लेता है। तीसरी दुनिया के अधिकांश समाजों की दृष्टि में राज्य की भूमिका अराजकता के बीच व्यवस्था कायम करने वाले तंत्र के रूप में ही नहीं थी। इन समाजों में तो राज्य के अस्तित्व में आने से पहले ही एक तरह की व्यवस्था मौजूद थी। राज्य की भूमिका तो वह व्यवस्था कायम रखने वाले सहायक और जनता के लिए समृद्धि के वाहक के रूप में थी। (सेठ, पूर्वोक्त, पृ. 287)

राज्य समाज के निर्देशों पर चलता था न कि समाज राज्य के निर्देशों पर। दरअसल अतीत में इन समाजों में कई राजनीतिक व्यवस्थाएँ रही हैं और एक दूसरे से होड़ भी करती रही हैं। पर वे एक बृहत्तर सभ्यता के अंग के रूप में थीं। जिसमें राज्य राजनीतिक रूप से शासन चलाने के ठेकेदार के रूप में परिभाषित नहीं किया जाता था। उस समाज में राज्य एक सभ्यतामूलक समाज में रची–बसी सामाजिक व्यवस्था का प्राथमिक ढाँचा समझा जाता था।

बाहरी शक्तियों के माध्यम से राष्ट्र–राज्य के आगमन से इन समाजों की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्राथमिकताएँ उलट–पुलट हो गईं। नई राज्य प्रणाली के साथ काम करने के दौरान इन समाजों ने अपनी अंतर्भिमुखता खो दी। इसी के साथ सामाजिक बदलाव और आर्थिक कायाकल्प की समस्याओं से निपटने की उनकी क्षमता भी नष्ट हो गई। वे आंतरिक विखंडन और बाहरी अधीनता की शक्तियों के भी शिकार हो गए। कई समाजों ने अपनी अंतर्भिमुखता अर्थात् व्यवस्था और परिवर्तन की आंतरिक शक्तियों की स्वायत्तता और उन पर नियंत्रण खोकर खुद को 15वीं सदी के दौरान पश्चिम में उभरी शक्तियों के हाथ में मिट्टी के लोंदे की तरह रख दिया। ये शक्तियाँ उन्हें मनमाने तरीके से गढ़ने में लग गईं। द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद राष्ट्र–राज्य के ढाँचे को पूरी दुनिया के समाजों के लिए एकमात्र प्रणाली बनाने वाला सार्वभौम सिद्धांत इसीलिए प्रतिपादित किया जा सका, क्योंकि तीसरी दुनिया के समाज पहले ही अपनी अंतर्भिमुखता खो चुके थे। अंतर्भिमुखता के अभाव में इन समाजों के सामने स्वाधीन होने के समय सिर्फ राष्ट्र–राज्य के मॉडल के अलावा कोई चारा न था। (वही)

अगर इन समाजों को राजनीतिक और सांस्कृतिक विखंडन और आधुनिकीकरण की भीतरी समस्या और अंतर्राष्ट्रीयकरण की बाहरी समस्या से निपटना है तो उन्हें अपने लिए शासन की वैकल्पिक प्रणाली विकसित करनी पड़ेगी। ऐसी प्रणाली जो उनकी ऐतिहासिक और परिवर्तन की सामयिक जरुरतों के अनुरूप हो। हालाँकि वे न तो आधुनिकता की शक्तियों से छुटकारा पा सकते हैं और न ही राष्ट्र–राज्य संबंधी दुनिया के यथार्थ से लेकिन उन्हें राष्ट्र–राज्य की किताबी

परिभाषा में नहीं फँसे रहना चाहिए। इस मॉडल में कई संशोधन और सुधार संभव ही नहीं बल्कि जरुरी भी हैं। दरअसल, इस तरह के सुधार पहले से स्थापित राष्ट्र–राज्य अपने अनुभव और जरुरतों के मुताबिक कर भी रहे हैं। नए राज्य इन परिवर्तनों की उपेक्षा करके नुकसान ही उठायेंगे। (आलम, 2006, पृ. 102–103.)

शासन की नई प्रणाली की तरफ पहला कदम अंतर्भिमुखता की बहाली होगा। इसका मतलब यह कतई नहीं लिया जाना चाहिए और न ही इसका अर्थ यह है कि पुरानी व्यवस्थाओं की पुनः रचना की जाए। लेकिन इसका मतलब यह जरुर है कि इन समाजों में व्यवस्था और परिवर्तन की आंतरिक ताकतों की स्वायत्तता और उन पर नियंत्रण को फिर से स्थापित किया जाए। ये समाज दुनिया में अपनी भूमिका नहीं निभा सकते अगर वे राजनीतिक और आर्थिक रूप से इस कदर महत्वहीन होकर बाहरी विश्व के दबावों से प्रभावित होते रहेंगे। सबसे बुरी स्थिति तो यह होगी कि जब इन राज्यों का शासक वर्ग भी अपनी वैधता का आधार अपने समाज में नहीं बना पाएगा तो शासन के मुख्य औजार के रूप में सैन्यीकरण, आंतरिक दमन और बहुसंख्यक जातीयता का इस्तेमाल करेगा। (सत्यमूर्ति,1996, पृ. 29.)

जिन तर्कों के आधार पर इस क्षेत्र में राष्ट्र–राज्य बनाए थे वे तर्क आज भी राष्ट्र–राज्य के नए अर्थों के साथ जारी है। जिस तरह राष्ट्र–राज्य सभ्यतामूलक व्यवस्था से कट कर अलग हुए थे, उसी तरह जातीयताएँ राष्ट्र–राज्य की राष्ट्रीय व्यवस्था से छिटक रही हैं। हर जातीयता अपनी आंशिक पहचान पर जोर देती है। कभी वह पहचान धार्मिक, कभी जातीय–भाषायी और कभी क्षेत्रीय–सांस्कृतिक समूहों की होती है। दक्षिण एशिया की राजनीतिकृत जातीयताएँ खुद राष्ट्र–राज्य बनने की कोशिश कर रही हैं। जरुरी नहीं कि वे इस कोशिश में कामयाब हो ही जाएँ, लेकिन फिर भी राज्य सांस्कृतिक रूप से एक अस्थिर और राजनीतिक रूप से अव्यावहारिक इकाई ही बना रहेगा। (सेठ, 24 मार्च, 1989)

निष्कर्ष

सांस्कृतिक विखंडन से पैदा होने वाली आर्थिक जड़ता और फिर आर्थिक जड़ता से पैदा होने वाले सांस्कृतिक विखंडन और दमनकारी और अधिनायकवादी राज्य की ताक में लगी बहुसंख्यक जातीयता के इस दुष्चक्र से कैसे निकला जाए। स्पष्ट रूप से हमें क्षेत्रीय स्तर पर और इन समाजों के भीतर, दोनों स्तरों पर नई शासन प्रणाली चाहिए। मौजूदा राष्ट्र–राज्य भंग करके नए सिरे से नई राजनीतिक व्यवस्था खड़ा करने का वक्त निकल चुका है अैर आज ऐसा सुझाव बचकाना ही लग सकता है। लेकिन अगर उन समाजों का प्रभु वर्ग राष्ट्र–राज्य के खुद को थमाये गये उस इतिहास और सिद्धांत से मानसिक छुटकारा प्राप्त कर ले, जिसके आधार पर वह इतने दिनों से काम कर रहा है, तो काफी कुछ हो सकता है। अगर ऐसा हुआ तो राज्य को जातीय आधार पर परिभाषित तंत्र के बजाय एक नागरिक समाज के नियंत्रण में काम कर रही राजनीतिक इकाई के रूप में देखना संभव हो सकेगा।

इतना ही नहीं यह नागरिक समाज की तरफ से और उसी के लिए एक राज्य होगा न कि एक राष्ट्र–राज्य। तब लक्ष्य नागरिक समाज बनाने और उसके तहत एक राज्य स्थापित करने का हो जाएगा। फिर ये इकाइयाँ अपने क्षेत्र में कई नए राजनीतिक गठजोड़ बना सकेंगी। मसलन ये राष्ट्र–राज्य अन्योन्यक्रिया और सहयोग का क्षैतिज ढाँचा बना सकेंगे। लेकिन जब तक ये समाज खुद को नागरिक समाज में नहीं बदल लेते और उस सभ्यतामूलक ढाँचे में खुद को स्थापित नहीं कर लेते जिससे वे कभी निकल गए थे। उस ढाँचे के भीतर ही उस बृहत्तर सभ्यता के सदस्यों में आपसी बंधन, सहअस्तित्व और सहयोग की प्रणाली विकसित भी करनी होगी, जिससे वे कभी जुड़े रहे थे। भारत सहित तीसरी दुनिया के देश अब अपने क्षत–विक्षत राष्ट्र–राज्यों के साथ 21वीं सदी के तीसरे दशक में प्रवेश करने के मुहाने पर खड़े हैं। उन्हें अपनी समस्याओं से निपटने के लिए नई देशज व्यवस्थाएँ अपनाने की चुनौती स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

REFERENCES

कविराज , सुदीप्त, (1984)''क्राइसिस ऑफ नेशन–स्टेट इन इंडिया'', *पॉलिटिकल स्टडीज*, वॉल्यूम–42, 1984,

कविराज, सुदीप्त (1997) *पॉलिटिक्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड,* न्यू दिल्ली.

डिसूजा, पीटर (1999) *कंटेम्पररी इंडिया,* नई दिल्ली, सेज,

हेल्ड,, डेविड (1999) *''डेमोक्रैसी एंड ग्लोवलाइजेशन'', अल्टर्नेटिव्ज : सोशल ट्रांसफॉर्मेशन एंड ह्यूमन गवर्नेस,* वॉल्यूम 16(2), 1999,

सत्यमूर्ति, टी.वी (1996,) रीजन, रीलीजन एण्ड कल्चर इन कंटेम्पररी इंडिया, , न्यू दिल्ली, ऑक्सफोर्ड

सेठ , धीरुभाई, (2009,) *सत्ता और समाज,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

सेठ, डी.एल.,(1989) ''स्टेट नेशन एंड एथ्निसिटी'', *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, 24 मार्च, 1989.

वीनर, माइरन (सं.),(1987.) *द स्टेट, रिलीजन एंड इथनिक पॉलिटिक्स : पाकिस्तान, ईरान एंड अफगानिस्तान,* हालौर वेंगार्ड बुक्स,

कोठारी रजनी (2005) *बहु सांस्कृतिक समाज और मध्यमवर्गीय राज्य के प्रभाव में गिरावट* इन लोकतंत्र के सात

अध्याय संपादक अभय कुमार दुबे, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन

नंदी, आशीष (2005) *नयी राजनीतिक संस्कृति* इन लोकतंत्र के सात अध्याय संपादक अभय कुमार दुबे, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन

चंडोक,, नीरा (1998) *द स्टेट एंड सिविल सोसायटी : एक्सप्लोरेशन इन पॉलिटिकल थ्योरी,* नई दिल्ली, सेज

आलम जावीद,(2006) *लोकतंत्र के तलवगार,* नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन.